International Referred Research Journal, March, 2011.ISSN- 0974-2832,RNI-RAJBIL2009/29954, VoL.II *ISSUE-26

शोध पत्र- हिन्दी

प्रगतिवाद : परंपरा और देश -काल

* डॉ. सत्यपाल सिंह चौहान

* एसोशिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, असम विश्वविद्यालय, सिलचर

March, 2011

साहित्य में परंपरा का विशेष महत्त्व है। श्री नलिन विलोचन शर्मा परंपरा के संदर्भ में लिखते हैं कि''परंपरा का व्यापकतम अर्थ है, वे सारी संस्कारगत रूढ़ियाँ,साहित्यिक मान्यताएँ और अभिव्यंजना प्रणालियाँ, जो एक लेखक को अतीत से प्राप्त होती हैं [1]''अज्ञेय के अनुसार ऐसी जीवन्त और उपयोगी परंपराओं को आत्मसात् करके उनके जीवन्त तत्वों को पुनर्संजित करना ही कवि का दायित्व है। अज्ञेय लिखते हैं कि ''परंपरा का कवि के लिए कोई अर्थ नहीं जब तक कि उसे ठोक–बजाकर, तोड़–मरोड़कर आत्मसात् नहीं कर लेता, जब तक कि वह इतना गहन संस्कार नहीं बन जाती कि उसका चेष्टा पूर्वक ध्यान रखकर निर्वाह अनावश्यक हो जाए।''[2] अतः साहित्यकार के लिए परंपरा, इतिहास व संस्कृति की वह अविच्छिन्न धारा है जिसमें प्रगतिशील तत्त्व भी सन्निहित रहते हैं। अतः सृजन के संदर्भ में परम्परा विशुद्ध रूप से रूढ़ि न होकर उसमें सामाहित वे जीवन्त तत्व हैं जिनका संरक्षण वर्तमान में आवश्यक होता है अर्थात जो वर्तमान में सार्थक और प्रासंगिक होते हैं। प्रत्येक प्रगतिशील साहित्यकार अतीत की परंपरा का उद्घाटन कर, उसमें व्याप्त अंतर्विरोधों को समझने तथा उन्हें आत्मसात करने का प्रयास करता है।अपने देश व काल के संदर्भ में अपने साहित्य में उसके जीवन्त, प्रासंगिक तथा प्रगतिशील तत्वों को पुनर्संजित करता है। फलतः उसमें एक स्वस्थ परंपरा–बोध या इतिहास–बोध जन्म लेता है।

कोई भी रचना न तो पंरपंरा का पूर्ण प्रतिरूप होती है और न ही उससे पूर्णतः निरपेक्ष होती है।उसकी मौलिकता में भी किसी न किसी रूप में परंपरा अनुस्यूत रहती है।इसका तात्पर्य यह नहीं कि नयी रचना बिल्कुल पूर्व परंपरा का ही प्रतिरूप होती है,अपितु उसमें बहुत कुछ ऐसा भी होता है जो पूर्व परंपरा से पृथक किया जा सके। इसका कारण यह है कि परंपरागत तत्वों के साथ–साथ वातावरण से संबंधित तत्वों का मिश्रण हो जाता है।''अतः नयी रचना में परंपरा और वातावरण दोनों का समन्वित रूप दृष्टिगोचर होता है।[3]''अत : किसी भी रचना में परंपरा और समकाल का द्वंद्व निरंतर देखा जा सकता है। कवि वर्तमान की भाँति अपने अतीत या इतिहास से टकराता एवं जूझता है। अपने अतीत की साहित्यिक सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परंपराओं से गुजरने की उसकी यह स्थति द्वंद्वात्मक होती है। कवि को उसमें उपेक्षित,शोषित एवं मानवीय मूल्यों के लिए संघर्षरत मनुष्यों की भावनाओं और संवेदनाओं को आत्मसात करना पड़ता है।उन्हें कला में पुनः सृजित करने के लिए वह विचार, भावों एवं रागों के लिए न केवल परंपरा और इतिहास के अंतर्विरोधों से, अपितु समकालीन यथार्थ से भी टकराता है, आत्म–संघर्ष करता है। ताकि उसकी कृति अपने समय के समाज एवं जन–साधारण के भावों एवं रागों से तादात्म्य स्थापित कर सके। इसीलिए समाजपरक यथार्थवादी काव्य–परंपरा के कवि के लिए परंपरा से गुजर कर भी उससे मुक्त होना नितांत अनिवार्य हो जाता है। परंपरा की यह यह द्वंद्वात्मकता ही उसकी मौलिकता की कसौटी है।''[4]

उल्लेखनीय है कि परंपरा के प्रति सभी प्रगतिवादी कवियों की प्रतिक्रिया एक सी नहीं है। कुछ कवि परंपरा से मात्र अभिभूत होते हैं अपने स्वाभावनुरूप कुछ भावों को ग्रहण कर उन्हें व्यक्त कर देते हैं। प्रगतिवादी कवियों में शिवमंगल सिंह सुमन का परंपरा–बोध अपेक्षाकृत अधिक गहरा है, परंतु सवतंत्रता संग्राम में भाग लेने के कारण उनमें रोमानियत का कुछ आधिक्य हो गया।निराला, त्रिलोचन, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध आदि कवियों ने परंपरा को प्रगतिशील अर्थों में अर्जित एवं आत्मसात किया है। इन कवियों ने न केवल भारतीय इतिहास, साहित्य, लोक संस्कृति की स्वस्थ परंपराओं का ही अर्जन किया अपितु विदेशी साहित्य एवं चिंतन की प्रगतिशील परंपराओं को समझने तथा हृदयंगम करने का प्रयास किया है। निराला कृत 'तुलसीदास' तथा अन्य रचनाएँ, उनकी इतिहास परंपरा की पकड़ तथा अपने समय की टकराहट को अत्यंत तीव्रता से व्यक्त करती हैं। परंपरा के प्रगतिशील तत्त्वों को आत्मसात करने के प्रति त्रिलोचन अत्यंत संवेदनशील है।''अभिजात्य संस्कारों में जन्म लेकर,आत्म–संघर्ष के जरिये,उसने गरीब किसान को अपने भीतर रहने दिया बाकी सबको उड़ा दिया। देशी–विदेशी क्लैसिक अवधी,खड़ीबोली, संस्कृत, उर्दू, फ्रेंच, जर्मन,रूसी, अरबी, फारसी क्लैसिकी की जीवंत–परंपरा को उन्होंने अपने किसान व्यक्तित्त्व में मथ डाला। यह महत्त्वपूर्ण है कि त्रिलोचन में इतिहास है अपनी सामान्यता के साथ, इतिहास में त्रिलोचन है अपनी विशिष्टता के साथ।''[5]

केदारनाथ अग्रवाल ने परंपरा की द्वंद्वात्मकता को अत्यंत सतर्कता के साथ आत्मसात करने का प्रयास किया है। उन्होंने कालीदास, तुलसीदास, सैंडर पेटाकी (हंगरी), वाल्टव्हिमैन (अमरीका),निराला, प्रसाद,पंत की कविता के दाय से अपने सौंदर्यानुभव का विकास किया है। इसी तरह लोक कवि नागार्जुन ने भी न केवल इतिहास की अपितु लोक–संस्कृति की संवेदना को अति गहराई से पहचाना है। उनकी लोक–संपृक्ति एवं राजनीतिक आंदोलनों में सक्रिय भागीदारी ने उनमें जीवन की

गहरी समझ पैदा की है। फलतः लोक–काव्य, लोक–भाषा एवं मुहावरों को अपनाते हुए उन्होंने साहित्य को जनोन्मुख काव्य–परंपरा या लोक–कविता की परंपरा को अत्यंत जीवंतता एवं विवेक के साथ विकसित किया है। मुक्तिबोध भी आधुनिकता के साथ–साथ परंपरा से अविच्छिन्न रहे हैं। वे स्वयं कहते हैं–''मैं उनका ही होता, जिनसे मैंने रूप भाव पाये हैं,

वे मेरे ही हिये बँधे हैं,जो मर्यादाएँ लाये हैं ।

परंतु मुक्तिबोध ने परंपरा को अपने व्यक्तित्त्व के अनुरूप शुद्धीकृत करके ही अपनाया है। उन्होंने भारतीय इतिहास की परंपरा को वस्तुनिष्ठ दृष्टि से आत्मसात किया है, जिनका प्रभाव उनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। परंपरा और इतिहास के प्रति अपने वैज्ञानिक विवेक एवं तर्कमुक्त विश्लेषण से युक्त आलोचनात्मक कृतियों यथा–'कामायनी–एक पुनर्विचार', 'भारत : इतिहास और संस्कृति' आदि के कारण मुक्तिबोध काफी समय तक विवाद के विषय बने रहे। अंततः विद्वानों का एक वर्ग उनसे सहमत भी हुआ।

रांगेय राघव (अजेय खंडहर), नरेंद्र शर्मा (लाल–निशन), शील शंकर शैलेंद्र एवं विशेषतः सुदर्शन चक्र की कुछ कृतियाँ सोवियत इतिहास एवं साम्यवादी क्रान्ति को आधार बनाकर लिखीं गई। परंतु वहाँ के ऐतिहासिक अंतर्विरोधों एवं भारतीय संघर्ष के तत्कालीन अंतर्विरोधों की विभिन्नताओं की समझ की कमी के कारण इन रचनाओं में भावात्मक आक्रोश एवं विचारधारा विशेष का गुणगान ही अधिक है। वहीं जब ये कवि भारतीय जन–मानस से जुड़कर, यहाँ के जन–साधारण के दुखों को अपनी रचना में उतारते हैं तो वे रचनाएँ कहीं अधिक मार्मिक और स्वाभाविक बन पड़ी हैं। आधुनिक हिंदी कविता में प्रगतिवादी कविता के विकास में तत्कालीन देश–काल अर्थात राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों का विशेष योग है। भारत में अंग्रजी शासन–व्यवस्थाओं ने परम्परागत भारतीय गाँवों की एकरसता को तोड़ा। भारतीय संसाधनों और बाजार का अपने हित में प्रयोग किया। भारतीयों को बेरोजगारी और अकाल के मुँह में ढकेला। शोषण का विरोध करने पर दमन का सहारा लिया। ब्रिटिश तंत्र, विज्ञान और आधुनिक शिक्षा व्यवस्था के चलते जागरूकता बढ़ी।राष्ट्रीय आंदोलन का उदया और विकास हुआ तथा इसने शहरों और गाँवों में नवीन चेतना का प्रसार किया था। व्यवस्था, शिक्षा, आजीविका आदि के चलते गाँवों का एक वर्ग शहरों की ओर स्थानांतरित हो रहा था। फलतः एक ऐसा निम्न मध्य वर्ग भी प्रकाश में आया जो गाँव व शहर दोनों से एक साथ जुड़ा हुआ था।अधिकांश प्रगतिवादी कवि इसी निम्न मध्य वर्ग में से थे। यही कारण है कि प्रबुद्ध चेतना के साथ–साथ इन कवियों में किसानी वातावरण के संस्कार मिलते हैं। इन्हें अपनी मिट्टी से प्रेम है, अपने परिवेश और प्रकृति के प्रति हार्दिक रागात्मकता है। इन कवियों में से प्रायःसभी ने ग्रामीण परिवेश और जीवन की कठिनाइयों, संघर्ष, शोषण व उत्पीड़न को अति निकट से देखा व अनुभव किया था। ये कवि जब मार्क्सवादी विचारधारा के संपर्क में आये तो इन्हें सामाजिक यथार्थ के पहलुओं को समझने में कठिनाई नहीं हुई। ये कवि समाज के प्रति एक उत्तरदायित्व की भावना से भर गये।शहर के निम्न मध्यवर्गीय जीवन के संकटों, संघर्षों को भी इन्होंने झेला। आजीविका के लिए संघर्ष करते हुए ये कवि शहरी निम्न मध्यवर्ग एवं मजदूर वर्ग के भी निकट आये। फलतः ये कवि सामाजिक यथार्थ को आनुभूतिक स्तर पर ढालने में सफल हुए। अतः इन कवियों के व्यक्तित्त्व एवं रचनाधर्मिता के विकास में उपर्युक्त परिवेश ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

अंतर्राष्ट्रीय परिवेश के अंतर्गत प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात सबसे महत्त्वपूर्ण घटना रूसी सर्वहारा क्रांति (1917) तथा साम्यवादी रूस का उदय था। इसने संपूर्ण विश्व को पुनर्चिन्तन के लिए विवश किया। सभी देशों में थोड़े बहुत साम्यवादी विचार पहुँचे। भारत में भी 1922–23 में विभिन्न औद्योगिक क्षेत्रों में साम्यवादी विचार पहुँचे और साम्यवादी दल बने। 1922 में श्रीपाद अमृत डाँगे ने बंबई से ''सोशलिस्ट'' नामक समाचार–पत्र निकाला। लाहौर में उर्दू में ''इंकलाब'' पत्र निकला। विदेशों में विशेषकर – मास्को,बर्लिन, पेशावर आदि में बसे भारतीयों ने भारतीय कम्युनिस्ट दल बनाए। 1926–28 के दौरान बंबई, बंगाल, पंजाब, संयुक्त प्रांत के विभिन्न नगरों में मजदूर–किसान पार्टियाँ बनने लगीं थी। अपने हितों की पूर्ति के लिए किसान व मजदूरों के संगठन ने आंदोलन व हड़ताल का मार्ग अपनाया। सन् 1929 तक पहुँचते– पहुँचते श्रमिक आंदोलन से देश की राष्ट्रीय चेतना भी प्रभावित हुए बिना नहीं रही। प्रारंभ में ये साम्यवादी दल परस्पर संगठित नहीं थे, परंतु इन्होंने जमींदारी प्रथा समाप्त करने की व 'पूर्ण स्वतंत्रता' देने जैसी माँगे उठाने लगे थे। अंग्रेजी सरकार साम्यवादियों से विशेष रूष्ट हुई तथा उसने इनके दमन के हर संभव प्रयास किये। ''पेशावर षड़यंत्र केस'' तथा बाद में ''मेरठ षड़यंत्र केस'' के मूल में यही मनोवृत्ति थी।

1928 से 1933 के दौरान विश्वव्यापी आर्थिक मंदी से भारतीय किसानों की स्थिति दयनीय हो गई थी। इधर गाँधीजी द्वारा चलाए जा रहे राष्ट्रीय आंदोलन (असहयोग आंदोलन) ने जनता में जागृति पैदा कर दी थी। मजदूरों किसानों और साधारण मध्यवर्गीय जनता के अतिरिक्त महिलाएँ भी इस आंदोलन में बढ़–चढ़ कर भाग ले रहीं थी।

जवाहर लाल नेहरू एवं सुभाषचंद्र बोस के नेतृत्त्व में कांग्रेस के भीतर वामपंथी राष्ट्रवादी शक्तियाँ उभरने लगीं थी। क्रांतिकारी आंदोलन नवीन चेतना से अनुप्राणित था। उन्होंने अपने संगठन का नाम ही ''हिंदुस्तान सोशिलिस्ट आर्मी'' रखा था। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिए ब्रिटिश सरकार ने जुलाई 1933 में कम्युनिस्ट पार्टी को गैर कानूनी घोषित कर दिया एवं कम्युनिस्टों के दमन का मार्ग अपनाया।सरकार के इन कार्यों ने साम्यवादी पार्टी उसके कार्यक्रमों को, जनता में और अधिक लोकप्रिय बनाया।1936 के कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष पद से बोलते हुए जवाहर लाल नेहरू ने यह कहा–''चाहे समाजवादी सरकार की स्थापना सुदूर भविष्य की ही बात क्यों न हो और हम में से बहुत सारे लोग उसे चाहे अपने जीवन में न देख सकें, किंतु वर्तमान स्थिति में समाजवाद

ही वह प्रकाश है,जो हमारे पथ को आलोकित करता है''[6] उपर्यक्तु राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव नवीन युवा पीढ़ी पर पड़ना स्वाभाविक था। उसने भी अपने जीवन और रचनाओं में समाजवादी स्थितियों के स्वप्न देखे एवं उन्हें अभिव्यक्त किया।

सन् 1936 ई0 में भारत में प्रेमचंद के सभापतित्त्व में ''प्रथम अखिल भारतीय प्रगतिशील सम्मेलन (लखनऊ)'' हुआ। भारत में यह अधिवेशन कोई आकस्मिक घटना नहीं थी अपितु अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों का ही एक अंग था। जुलाई 1935 में साहित्यकार हेरनी बरबूज के प्रयासों के फलस्वरूप पेरिस में सपन्न हुई 'वर्ल्ड कांग्रेस ऑफ राइटर फार द डिफंस ऑफ कल्चर' के तत्वाधान में ही प्रगतिशील लेखकों की एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था का निमार्ण ब्रिटिश उपन्यासकार ई0 एम0 फॉस्टर की अध्यक्षता में हुआ। इधर 1935 में लंदन में ही रहने वाले युवा भारतीयों मुल्कराज आनंद, भवानी भट्टाचार्य एवं जे0सी0 घोष आदि ने इंडियन प्रोग्रेसिव राइटर्स ऐशोसियेशन बनाई तथा घोषणा–पत्र प्रस्तुत किया।

स्पष्ट है कि लखनऊ का भारतीय प्रगतिशील संघ का प्रथम अधिवेशन भारत में उस प्रगतिशील आंदोलन की अभिव्यक्ति थी जो इस समय विश्व साहित्य में स्पंदित हो रही थी। इस अधिवेशन के घोषणा–पत्र में साहित्यकारों से उस साहित्य का निर्माण करने का आग्रह किया गया जो देश के वास्तविक जन–जीवन को अभिव्यक्त करता हो जो शोषित मानवता के उत्थान का संदेश देने में समर्थ हो और जो सामूहिक जन–जीवन की विषमताओं, आपदाओं और अभावों का अंत कर प्रगति के पथ पर अग्रसर कर सके। वस्तुतः यह मुक्त चेतना ही प्रगतिवादी काव्य का भी स्वर है। अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का दूसरा अधिवेशन कलकत्ता में दिसंबर 1938 में रवींद्रनाथ ठाकुर की अध्यक्षता में हुआ। इस अधिवेशन के घोषणा पत्र में, भारतीय जीवन में होने वाले परिवर्तनों को अभिव्यक्ति देना और साहित्य में वैज्ञानिक बुद्धिवाद का समावेश करके जनता में क्रांति की भावना का विकास करना, प्रत्येक भारतीय लेखक का कर्तव्य कहा गया। अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का तीसरा अधिवेशन श्रीपाद अमृत डागें की अध्यक्षता में 1946 में बंबई में , चौथा अधिवेशन भिवाडी (बंबई) में 1949 में, पाँचवाँ अधिवेशन दिल्ली में 1953 में हुआ उसके लंबे समय तक इस संघ का कोई अधिवेशन नहीं हुआ।

प्रगतिशील लेखक संघ के अतिरिक्त 'हंस', 'जागरण', 'नया साहित्य' जैसी पत्रिकाओं ने भी समाजपरक यथार्थवादी चिंतन एवं काव्य–धारा के विकास में उल्लेखनीय योगदान दिया। लेकिन यह कहना कि प्रगतिवादी काव्य पर मात्र विदेशी चिंतन का प्रभाव है तर्कसंगत नहीं है। वस्तुतः 1935 के बाद भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुये थे। पढ़ा लिखा नवोदित मध्यवर्ग आत्म चेतस के साथ–साथ विश्व चेतस भी हो रहा था। अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ उसे अपने देश और समाज में भी परिवर्तन करने के लिए प्रेरित कर रहीं थीं। निम्नमध्य वर्ग, किसान एवं मजदूर–श्रमिक जनता की राष्ट्रीय आंदोलन में सहभागिता बढ़ती जा रही थी। साम्राज्यवादी चरित्र और भाववादी नैतिक आदर्श दोनों ही अपनी वास्तविकता प्रकट कर रहे थे। इस समग्र बेचैनी का ही परिणाम साम्यवादी विचारों का भारत में प्रचार और प्रसार था जिसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रगतिवादी आंदोलन था। अतः प्रगतिवाद आंदोलन ने एक ओर वैज्ञानिक दृष्टि से परंपरा के जीवंत और प्रासंगिक तत्वों को आत्मसात करते हुए अपने साहित्य में रूपायित किया तो दूसरी ओर अपने परिवेश के प्रति अत्यंत संवेदनशीलता के साथ जुड़कर अपने दायित्व का निर्वाह किया।

संदर्भ ग्रंथ

1. डॉ. नलिन विलोचन शर्मा :' साहित्य का इतिहास दर्शन',पृ. 276 2अज्ञेयः 'दूसरा सप्तक', (भूमिका, पृ. 167), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली,1984 3.डॉ. गणपति चंद्र गुप्त : 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास',पृ. 40, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986 ।4. डॉ0 कमला प्रसाद –आधुनिक हिंदी कविता और आलोचना की द्वंद्वात्मकता पृ0–258, साहित्यवाणी इलाहाबाद,1986 5.डॉ0 कमला प्रसाद –आधुनिक हिंदी कविता और आलोचना की द्वंद्वात्मकता पृ0–258, साहित्यवाणी इलाहाबाद,1986 6. डॉ0 पट्टाभिसीता रमय्या, कांग्रेस का इतिहास, भाग–2,पृ0469